वैदिक त्रैतवाद

लेखक

पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय एम० ए०

सम्पादक

कर्मयोगी : लाजपत राय अग्रवाल

प्रकाशक

अमर स्वामी प्रकाशन विभाग

१०५८, विवेकानन्द नगर, गाज़ियाबाद - २०१००१

(उत्तर प्रदेश)

द्वितीय बार : अक्टूबर सन् २००२ ई० ★ मूल्य : दो रूपये

Scanned by CamScanner

धर्म प्रकाश आर्य 2/16

वैदिक त्रैतवाद

वैदिक त्रैतवाद का अर्थ यह है कि वेदों के सिद्धान्तानुसार तीन चीज़ें आदि और अनन्त हैं। (१) ब्रह्म, (२) जीव, (३) प्रकृति।

(१) **ब्रह्म**- जिसके ईश्वर, परमेश्वर, परमात्मा आदि अनेक नाम हैं। यह एक विभु या सर्वदेशी, ज्ञान-वती तथा शक्तिमती सत्ता है जो एक है, अखण्ड और एक रस है। इसमें किसी कल या किसी अवस्था में भी किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। जीव परिछिन्न अर्थात् एक देशी और चेतन सत्ता है इसको-'कर्तृत्व-भोक्तृत्व-ज्ञातृत्व-वानाणु' कह सकते हैं।

(२) **जीव**- जीव अनेक अर्थात् संख्या की अपेक्षा अनन्त हैं। इनमें भिन्न-भिन्न कालो में परिस्थिति के अनुसार ज्ञान की अपेक्षा से परिवर्तन होता रहता है। अर्थात् जीव का ज्ञान घटता बढ़ता रहता है, और उसी के अनुसार उसकी 'भोक्तृत्व' और 'कर्तृव्य' शक्ति भी प्रभावित होती रहती है।

(३) **प्रकृति**- प्रकृति परमाणुओं, देश, काल आदि की मौलिक अवस्था का नाम है। इन्हीं के संयोग-वियोग आदि द्वारा सृष्टि वनती विगड़ती रहती है। प्रकृति जड़ है। उसमें न कर्तृत्व है न भोक्तृत्व और न ज्ञातृत्व। यह स्वयं न कुछ कर सकती है और न सुखः दुख का अनुभव ही कर सकती है और न इसमें ज्ञान है। यह हुआ 'वैदिक त्रैतवाद' का साधारण विवरण।

आर्यसमाज अर्थात् वेदों के सिद्धान्त की यह एक

Scanned by CamScanner

विशेषता है जो अन्य धर्मों के सिद्धान्तों से भिन्न है। पहले यह बता देना चाहिये कि यह भिन्नता कहाँ है ?

यों तो सभी जीव, ब्रह्म और जड़ जगत को मानते हैं। सृष्टि की वर्तमान अवस्था में यह भेद इतना प्रत्यक्ष और स्पष्ट हो जाता है कि कोई इसका विरोध नहीं कर सकता। आप किसी धर्मावलम्बी को उपासना करते देखिये। वह अपनी सत्ता को मानता है। अपने उपास्य देव की सत्ता को मानता है और इन दोनों से इतर उन चीज़ों की सत्ता को मानता है जिनकी प्राप्ति के लिए अथवा जिनसे बचने के लिये वह अपने उपास्य देव से प्रार्थना कर रहा है।

इस प्रकार तीन सत्तायें हो गईं। एक उपासक अर्थात् जीव, दूसरा उपास्य अर्थात् ब्रह्म, तीसरी अन्य चीज़ जिनको वह लेना या छोड़ना चाहता है। यहाँ तक किसी का कुछ भेद नहीं है। परन्तु भेद चलता है इन तीनों के सम्बन्ध में। अर्थात् अल्पज्ञ जीव, सर्वज्ञ ब्रह्म और अज्ञ अर्थात् सर्वथा ज्ञान-शून्य जड़ जगत में क्या सम्बन्ध है ? क्या यह तीनों वस्तुयें अनादितः और अनन्तः भिन्न हैं या किसी समय या किसी अवस्था में वे एक थीं और किसी कारण से उनमें भेद पड़ता गया। इस विषय में भिन्न-भिन्न धर्मों में तीन प्रकार के सिद्धान्त पाये जाते हैं।

(१) विवर्तवाद (२) गुणपरिणाम वाद (३) आरम्भकवाद।

अब आप इनकी मोटी-मोटी व्याख्या पर विचार कीजिये।

(१) विवर्तवाद- अतात्विकोऽन्यथा भावो विवर्त इत्युच्यते।

Scanned by CamScanner

अर्थात् जो वस्तु न हो और प्रतीत होती हो उसको 'विवर्त' कहते हैं। रज्जु में सर्प, सीप में चाँदी और रेत में जल इसके उदाहरण स्वरूप हैं। अर्थात् जब कोई अंधेरे में पड़ी हुई रस्सी को साँप समझ लेता है तो वस्तुतः वहाँ साँप का नाम तक नहीं, परन्तु वह रस्सी ही उसको साँप प्रतीत होने लगती है। साँप नहीं था, परन्तु साँप प्रतीत होता है और उजाले में देखने से साँप की प्रतीति न रहेगी यही 'विवर्त' है। सीप चाँदी नहीं है परन्तु सीप में चाँदी की प्रतीति होती है। अर्थात् सीप को देखकर लोगों को भ्रम हो जाता है कि चाँदी है। इसी प्रकार रेताले मैदानों में पथिकों को दूर से रेत, जल प्रतीत होने लगता है। वह जल की खोंज में जब निकट पहुँचते हैं तो उनको पता लगता है कि यह सब भ्रम था।

यह तीनों हुए 'विवर्त' के दृष्टान्त ! कुछ लोगों का कहना है कि जैसे रस्सी को भ्रम के कारण साँप समझ लेते हैं और रेत को जल या सीप को चाँदी, इसी प्रकार न तो जीव कोई अलग सत्ता है, न सूर्य, चन्द्र, नदी, पहाड़, वृक्ष आदि। केवल ब्रह्म ही ब्रह्म है, अन्य वस्तुओं की प्रतीति भ्रम के कारण हो रही है।

(२) गुणपरिणामवाद- गुणपरिणाम वाद कहते हैं किसी पदार्थ को बदल कर उसके अवस्थान्तर को ग्रहण कर लेना। जैसे जल, बर्फ बन जाये, या बर्फ पिघल कर जल बन जाये, जल बर्फ नहीं है, न बर्फ़ जल है। परन्तु जल ही बदल कर बर्फ़ रूप हो गया है। या बर्फ़ ही बदल कर जल-रूप हो गई है। दूसरा दृष्टान्त है घी के जमने या पिघलने का। जमा हुआ घी और चीज़ है और पिघला हुआ घी और चीज़। परन्तु तत्व में दोनों

Scanned by CamScanner

एक हैं। एक ही चीज़ बदल कर दूसरी बन गई है। इसको 'गुण परिणाम' कहते हैं। अर्थात् मूल तत्व है तो एक, परन्तु उसमें परिणाम अर्थात् तबदीली होती रहती है।

इसी प्रकार कुछ लोगों का कहना है कि मूल तत्व तो है केवल एक ब्रह्म। परन्तु वही ब्रह्म सृष्टि का निमित्त-उपादान कारण है। जीव तथा संसार की सब चीज़ें उत्पन्न होती हैं और विनिष्ट हो जाती हैं। यह न अनादि हैं और न अनन्त। यह केवल ब्रह्म से ही उत्पन्न होती हैं और ब्रह्म में ही विलीन हो जाती हैं।

(३) आरम्भकवाद- यह तीसरा सिद्धान्त है आरम्भकवाद का। अर्थात् जैसे अलग-अलग ईंटों की सत्ता है। जब ईंटों को जोड़ दिया गया तो एक मकान बन गया। इस प्रकार आरम्भकवादी कहते हैं कि परमाणु असंख्य और अनादि हैं। इनके संयोग से सृष्टि बनती है और वियोग से नष्ट हो जाती है।

सृष्टि में हर समय संयोग और वियोग हुआ करता है। वस्तुतः संयोग का नाम ही सृष्टि है और वियोग का प्रलय। आटे से रोटी, मिट्टी के कणों से ईंट यह सब 'आरम्भवाद' के दृष्टांत हैं। इन तीनों सिद्धान्तों के लिये सृष्टि में दृष्टान्त मिल जाते हैं।

आर्यसमाज इन तीनों सिद्धान्तों को ठीक मानता है। परन्तु भेद इतना है कि आर्यसमाज की दृष्टि में यह तीनों सिद्धान्त एकांगी हैं, स्वतन्त्र नहीं। अर्थात् विवर्त, परिणाम तथा आरम्भकवाद ये तीनों हमको नित्य प्रति मिलते हैं। भूल यह है कि लोग एकवाद को सभी चीज़ों पर लागू करना चाहते हैं।

इसको कुछ और स्पष्ट कर दिया जाय। कभी-कभी

Scanned by CamScanner

ऐसा होता है कि मुझे रस्सी का साँप मालूम होता है या साँप की रस्सी मालूम होती है। इतने अंश में तो विवर्त ठीक ही है। परन्तु यह कहना कि मैं सदा साँप को रस्सी या रस्सी को साँप समझता हूँ ठीक नहीं। यदि सदा रस्सी को साँप समझा जाता या सदा साँप को रस्सी समझा जाता तब तो कोई यह बात भी नहीं कह सकता कि मैं रस्सी को साँप समझता हूँ या साँप को रस्सी ! उस समय विवर्त की व्याख्या भी नहीं हो सकती। इसी प्रकार सोने का अगूँठी में परिवर्तित हो जाना परिणाम अवश्य है। परन्तु जब कोई रेत को दूर से जल समझ बैठे या ज़ल को रेत, तो रेत और जल में परिणाम और परिणामी का सम्बन्ध नहीं है।

इसी प्रकार दस कड़ियों से मिलकर एक जंजीर का बन जाना या एक हजार ईटों से मिलकर एक दीवार का बन जाना यह तो 'आरम्भक' है, परन्तु आक्सीजन और हाईड्रोजन मिलकर जब जल बनता है तो इसको आरम्भक नहीं कहते। क्योंकि ईटों का मिलकर दीवार बन जाना एक भिन्न प्रकार का संयोग है और आक्सीजन तथा हाईड्रोजन का मिलकर जल बन जाना यह एक भिन्न प्रकार का संयोग है।

पहले को साधारण योग और दूसरे को रासायनिक संयोग कहते हैं। पचास ईटें मिलकर भी ईटें ही रहती हैं परन्तु जल की अवस्था आक्सीजन और हाइड्रोजन दोनों की अवस्था से भिन्न है। इसलिये यह कहना कि केवल विवर्तवाद से ही या केवल परिणामवाद से ही या केवल आरम्भकवाद से ही हम सृष्टि सम्बन्धी समस्त गुत्थियों को सुलझा देगें, यह एक बड़ी भारी भूल है और इसी

Scanned by CamScanner

भूल के कारण भिन्न-भिन्न वादों में झगड़ा है।

विवर्तवादी कहता है कि मुख्य और मौलिक सत्ता एक ब्रह्म है। ब्रह्म के अतिरिक्त कोई और वस्तु नहीं थी, न है, और न होगी। रहा जीवभाव या जड़ भाव ! यह 'विवर्त' है अर्थात् है नहीं; केवल प्रतीत होता है। आर्यसमाज कहता है कि यह ठीक नहीं क्योंकि यदि ब्रह्म से अलग कोई सत्ता नहीं है तो विवर्त केवल ब्रह्म को ही हो सकता है। अर्थात् ब्रह्म ही भूल से अपने को कुछ और समझ सकता है। इसमें दो दोष हैं। प्रथम तो मौलिक दोष अर्थात् जब तक ब्रह्म से इतर कोई वस्तु है ही नहीं तो भूल से भी ब्रह्म अपने को इतर नहीं समझ सकेगा।

यदि साँप न होता तो कोई भूल से भी रस्सी को साँप न समझता। यदि चाँदी अलग कोई वस्तु न होती तो कोई सीप में चाँदी न समझता। दूसरा दोष यह है कि यदि ब्रह्म भी भूल का अपराधी हो सकता है तो कोई दोषरहित ज्ञानमयी सत्ता शेष ही नहीं रह जाती जिसकी अपेक्षा से एक को ज्ञान और दूसरे को भ्रम कह सकें। भ्रम भी ज्ञान की अपेक्षा रखता है। उपनिषदों में ब्रह्म को 'सत्य, ज्ञान, अनन्त' कहा है अर्थात् ब्रह्म सत्य है, ज्ञान है और अनन्त है। आइये अब इसके अर्थों पर विचार कीजिये।

सत्य का क्या अर्थ है ? वही जो कि कभी बदले नहीं। बल्कि तीनों कालों* में एक सा रहे। जो ब्रह्म अपने को भ्रम या भूल से जीव समझ ले तो वह सत्य कैसा ?

---

* (१) भूतकाल (२) वर्तमान काल (३) भविष्यत् काल।

– "कर्मयोगी लाजपत राय अग्रवाल"

Scanned by CamScanner

उसको ज्ञान भी नहीं कह सकते। क्योंकि यदि मैं अपने को घोड़ा या वृक्ष समझ लूँ तो लोग मुझको मूर्ख कहेगें। इसी प्रकार जो ब्रह्म, भ्रम में पड़कर अपने को जीव समझता, विवाह करता, ग्रहस्थ के बन्धन को स्वीकार करता, सुख-दुःख भोगता और कभी-कभी अनेक प्रकार के पाप करता या अपने को पापी और महापापी समझता है उसको ज्ञान या ज्ञानी बताना कैसे सम्भव हो सकता है ? इसलिये स्पष्ट है कि "ब्रह्म को उपनिषदों ने 'सत्य' और 'ज्ञान' बताया है वह एक अखण्ड और सर्वज्ञ सत्ता है" जिसको कभी भ्रम नहीं हो सकता।

लोग कहा करते हैं कि जैसे स्वप्न देखने वाला अपने को कभी राजा देखता है कभी रंक और जब आँख खुल जाती है तो न तो वह राजा है और न रंक ! इसी प्रकार हम लोग स्वप्न की सी अवस्था में हैं। जब ज्ञान की आँख खुल जायेगी तो हम अपने को ब्रह्म समझने लगेगें। ऐसे लोगों से पूछना चाहिये कि इस समय तुम वस्तुतः ब्रह्म हो या नहीं ? यदि वे कहें कि हम वस्तुतः ब्रह्म हैं तो पूछना चाहिये कि जब तुम वस्तुतः ब्रह्म हो तो तुमको स्वप्न क्यों हो रहा है ? ब्रह्म तो सदा जागरूक है उसको न स्वप्न हो सकता है न सुषुप्ति। स्वप्न देखना निर्बलता का चिन्ह है जब तुम ब्रह्म ही हो तो तुमको स्वप्न क्यों दिखाई देता है ? शायद वे कहें कि माया के वशीभूत होने के कारण हमको स्वप्न दिखाई दे रहा है। हमारी आँखों पर माया का पर्दा पड़ा हुआ है। तो इनसे कहना चाहिये कि तुम माया के वश में कैसे आ गये ? माया बड़ी है या तुम ? माया में अधिक बल है या तुममें ? तुम माया के इस पर्दे को फाड़ क्यों नहीं

Scanned by CamScanner

फेंकते ? बीमार हो जाते हो, रोते हो, चिल्लाते हो, लड़ते-झगड़ते हो, दूसरों की शिकायत करते हो, राग-द्वेष बढ़ाते हो ? इस सबका एकमात्र उपाय यह है कि माया के बन्धन से मुक्त हो जाओ। जब नहीं हो सकते तो फिर क्यों कहते हो कि हम वस्तुतः ब्रह्म हैं ?

यदि वे कहें कि हम वस्तुतः जीव हैं परन्तु ज्ञान होने पर ब्रह्म हो जायेगें तो उनसे पूछना चाहिये कि जो वस्तुतः जीव है वह ब्रह्म कैसे हो सकता है ? यदि तुम वस्तुत जीव हो तो यह बताओ कि इस समय ब्रह्म है या नहीं ? यदि ब्रह्म है और पीछे से तुम भी ब्रह्म बन गये तो दो ब्रह्म हो जायेगें। इसलिये विवर्त, स्वप्न या मायावाद से सृष्टि की व्याख्या हो नहीं सकती।

गुण परिणामवाद भी अकेला सब बातों को सुलझा नहीं सकता। कुछ लोग समझते हैं कि जैसे सोने से अंगूठी, कड़ा, हार आदि अनेक प्रकार के ज़ेवर बन जाते हैं उसी प्रकार ईश्वर से मनुष्य, पशु-पक्षी तथा वृक्ष आदि जड़ पदार्थ बन जाते हैं परन्तु यह भी ठीक नहीं यदि शुद्ध सोना है तो उससे बने हुए किसी ज़ेवर में चाँदी या तांबे की मिलावट नहीं हो सकती। यदि किसी ज़ेवर में किसी प्रकार की गड़बड़ पाई जाये तो समझना चाहिये कि सोने के अतिरिक्त कोई और चीज़ भी थी।

इसी प्रकार यदि ब्रह्म ही एक अनादि सत्ता है और इसके अतिरिक्त और कोई सत्ता नहीं तो दुःख, अज्ञान जड़त्व कहाँ से आया ? ब्रह्म शुद्ध है तो उससे बनी सभी चीज़े शुद्ध होतीं। ब्रह्म सर्वज्ञ है, तो उससे बनी सभी चीजें सर्वज्ञ होनी चाहिये थीं। ब्रह्म आनन्दमय है तो उससे बनी सभी चीजें आनन्दमय होनी चाहिये थीं।

Scanned by CamScanner

इससे सिद्ध है कि सभी चीजें ब्रह्म से नहीं बनीं। कुछ लोग कहते हैं कि जीव ब्रह्म का ही अंश है जैसे आग की एक चिंगारी या समुद्र की एक बूंद । यह उदाहरण भी भ्रम मूलक है। अंश हमेशा अंशी के समान होता है। आग की एक चिंगारी भी एक आग है। समुद्र की हर एक बूंद पानी है। यदि यह सृष्टि ईश्वर का ही अंश है तो उसको ईश्वर के समान ही होना चाहिये। दुःख, पाप, अज्ञान, जड़त्व का नाम तक नहीं होना चाहिये, परन्तु सृष्टि ऐसी तो है नहीं।

जो लोग गुण परिणामवाद के आधार पर केवल एक ब्रह्म से ही सृष्टि बनाना चाहते हैं उनसे पूछना चाहिये कि सोने से ज़ेवर बनाने के लिये तो सुनार चाहिये। ईश्वर से सृष्टि बनाने के लिये भी तो (सुनार की भाँति) कोई निमित्त होना चाहिये। यदि कहो कि ईश्वर स्वयं ही सृष्टि के रूप में हो जाता है तो पूछना चाहिये कि कैसे ? आखिर ईश्वर में ऐसी कौन सी कमी है कि वह बहुरूपिये का स्वांग बदलता रहे। कभी बच्चे के रूप में रोये, चिल्लाये या तुतलाये, कभी उद्दण्ड बालक के रूप में तमाचे खाये, कभी गधे के रूप में कीचड़ के अन्दर लोटे। आखिर इस प्रकार के रूपों में उसे क्या मज़ा मिलता है और बिना रूप बदले उसे क्यों चैन नहीं पड़ता ?

आर्यसमाज कहता है कि यह सब भूल है। जैसे विवर्त या स्वप्न ईश्वर को नहीं सता सकता इसी प्रकार ईश्वर गुण परिणाम का भी विषय नहीं है। कभी-कभी विवर्त हो जाता है परन्तु जीव को क्योंकि जीव अल्पज्ञ है। कभी-कभी स्वप्न होता है परन्तु जीव को क्योंकि

Scanned by CamScanner

जीव निर्बल है। इसी प्रकार गुण परिणाम भी जड़ प्रकृति में ही होता है ईश्वर में नहीं। सोना प्रकृति का ही अंश है जिससे परिणाम स्वरूप ज़ेवर बन जाता है। ईश्वर परिणत नहीं होता। ईश्वर तो प्रकृति को अन्य रूपों में परिणत करता है। ईश्वर स्वयं नहीं बदलता बल्कि प्रकृति को बदल देता है।

कुछ लोग ब्रह्म से इतर (अलग) किसी अनादि सत्ता को नहीं मानते परन्तु ब्रह्म से ही अन्य सब वस्तुओं का बनना मानते हैं। जैसे ईसाई और मुसलमान कहते हैं कि ईश्वर ही ईश्वर अनादि है। अन्य सब वस्तुयें उसने बनाई हैं। परन्तु इन मतों के सिद्धान्तों की दार्शनिक नींव बड़ी अनिश्चित है। उन्होंनें कभी सोचने का प्रयत्न नहीं किया कि "बनाने का क्या अर्थ है ?" विवर्त तो वह मानते नहीं। परन्तु परिणाम भी नहीं मानते अर्थात् उनका न तो यह सिद्धान्त है कि ब्रह्म सृष्टि के रूप में प्रतीत होता है, और न यह मानते हैं कि ब्रह्म ही स्वयं सृष्टि के रूप में परिणत हो जाता है। आरम्भक का प्रश्न ही नहीं उठता। क्योंकि आरम्भक के लिये पहले कई चीज़ें चाहियें। फिर किस प्रकार ईश्वर ने सृष्टि बनाई ? इस पर यह लोग विचार करने के लिये तैयार नहीं हैं। यह तो शाब्दिक भूल-भुलैयों पर ही मुग्ध हैं अर्थात् ईश्वर ही सब कुछ है। हम कुछ नहीं। ईश्वर ने ही हम सबको बनाया है। वही हमारा कर्त्ता-धर्त्ता है। ईश्वर नित्य है। हम अनित्य हैं। ईश्वर ही सबसे पहले था और वही सबके पीछे बाकी रहेगा। हम तो केवल मात्र उत्पन्न हुए हैं। न पहले थे और पीछे रहेंगे या नहीं रहेंगे ? यह पता नहीं।

Scanned by CamScanner

यदि उनसे पूछा जाये कि ईश्वर ने सृष्टि किस चीज़ से बनाई ? तो वे कहते हैं "यह प्रश्न व्यर्थ है ! मनुष्य को आवश्यकता है कि किसी चीज़ के बनाने के लिये उपादान को चाहे। ईश्वर का ईश्वरत्व क्या यदि वह बिना उपादान के न बना सके।" यदि उनको पूछो "किस प्रकार ? क्या इसमें कोई दृष्टांत भी है ?" तो उनके पास इसका उत्तर कुछ भी नहीं। वह उपादान के नित्यत्व को मान कर ईश्वर का अपमान नहीं चाहते। परन्तु वह भूल जाते हैं कि आजकल भी ईश्वर बिना उपादान के कुछ नहीं बनाता।

ईश्वर भाप बनाता है जल से। जल बनता है ऑक्सीजन और हाइड्रोजन से। शरीर को बनाता है पंचतत्वों से। आजकल जितनी वस्तुयें ईश्वर की बनाई हुई मानी जाती हैं वे सब ही तो अपने अन्दर उपादान कारण रखती हैं। यह ईश्वर का ही तो नियम है कि प्रत्येक कार्य के लिये उपादान कारण चाहिये।

यदि ईश्वर बिना उपादान के सृष्टि बनाता तो सृष्टि का नियम ही यह होता कि उपादान के बिना कार्य हो सकता। फिर क्या था ? बिना जौ के बीज के जौ उपजता और बिना चने के बीज के चना। कम से कम जो वृक्ष ईश्वर उगाता है उसको तो बीज की आवश्यकता न पड़ती। यह लोग भूल जाते हैं कि नियम तो वही है। जीव तो उनका अनुकरण मात्र करता है। फिर यह कि यदि ईश्वर ही नित्य हो तो ईश्वर किसके लिये सृष्टि रचे ? यदि कहो 'अपने लिये' तो इससे उसकी अपूर्णता तथा कमी प्रकट होगी। क्या यह कम अपमान की बात है ? वस्तुतः केवल ईश्वर के ही नित्य मानने में इतनी

Scanned by CamScanner

उलझनें हैं कि इनसे छुटकारा पाना कठिन है। सृष्टि की अवस्था पर विचार किया जाय तो स्पष्ट हो जाता है कि ईश्वर इसको अपने लिये नहीं बनाता। जीवों के लिये बनाता है। जो सृष्टि ईश्वर ने उपादान-प्रकृति से बनाई वह जीव के सुख के लिये, जीव के विकास के लिये और जीव के भोग के लिये। ईश्वर ने मेरी आँख बनाई मेरे देखने के लिये। यह उसका स्वार्थ या प्रयोजन नहीं। केवल परोपकार है।

इसी प्रकार ईश्वर ने सूर्य बनाया कि मैं देख सकूँ। यदि आँख बनाता और सूर्य न बनाता तो मेरा प्रयोजन सिद्ध न होता। इसी प्रकार विशाल ब्रह्माण्ड की विस्तृत वस्तुये सम्बन्ध परम्परा से मेरे लिये हैं यद्यपि अल्प ज्ञान के कारण उनमें से बहुतों को मैं जानता तक नहीं।

कुछ लोगों का आक्षेप है कि यदि ईश्वर जीव के लिये सृष्टि बनाता है तो भी प्रयोजन वाला होने के कारण ईश्वर विकारी हो जायेगा। परन्तु वे भूल जाते हैं कि परोपकार विकार नहीं बल्कि विकार का अभाव है। स्वार्थ विकार है क्योंकि उसका स्वार्थी पर प्रभाव पड़ता है। उत्कृष्टतम परोपकार वह है जिसके कारण दूसरे का उपकार तो हो जाय परन्तु उपकार करने वाले में विकार उत्पन्न न हो। ईश्वर का परोपकार करना सर्वथा स्वाभाविक है अतः उसमें कोई विकार उत्पन्न नहीं होता। यदि आप इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते तो अवश्य ही इसका उल्टा स्वीकार करेंगे और उस अवस्था में आप अनेक उलझनों में पड़ जायेगें।

इसके लिये ईश्वर, जीव और प्रकृति के अनादि और अनन्त माने बिना काम नहीं चल सकता।

Scanned by CamScanner

इस सिद्धान्त के विरुद्ध सबसे बड़ा आक्षेप यह है कि वह संसार के कारणैक्य का विरोधी है। यदि एक ही मूल कारण के मानने से सृष्टि की व्याख्या हो सके तो एक से अधिक तत्व मानने की क्या आवश्यकता है ? परन्तु यह 'यदि' तो बड़ी टेढ़ी खीर है। यदि मूल तत्व एक ही होता तो अवश्य ही उसके मानने से सब उलझनें दूर हो सकतीं। परन्तु कहाँ होती हैं ? कारणैक्य वादियों ने आक्षेपों से बचने के अनेक उपाय सोचे परन्तु वे सफल न हो सके। यदि मूल तत्व एक ही होता तो विवर्त अर्थात् भ्रन्ति के लिये क्या कारण ? क्या प्रयोजन ? एक तत्ववादी तो परिणाम की भी व्याख्या नहीं कर सकते क्योंकि जब जल बर्फ़ बनता है तो उसके अन्दर भी उष्णता का दूसरा तत्व छिपा हुआ है यदि केवल जल होता और जल से इतर (अन्य) कोई वस्तु न होती तो कभी बर्फ़ भी न बन सकती। जल के ताप को घटाने से ही जल बर्फ़ रूप हो जाता है।

जो लोग बिना उपादान के शून्य से ही सृष्टि की व्याख्या करना चाहते हैं उन्होंने दार्शनिक प्रश्नों पर ध्यान ही नहीं दिया। यदि उपादान की शून्यता से काम चल सकता है तो निमित्त की शून्यता से क्यों नहीं चल सकता ? वस्तुतः शून्य से शून्य ही बन सकता है। इसीलिये उपनिषद् कहती है कि 'असत् से सत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती'। सृष्टि का उपादान कारण चाहिये, निमित्त कारण चाहिये और प्रयोजन चाहिये।

यह तीनों आवश्यकतायें ब्रह्म, जीव और प्रकृति के नित्य मानने से ही पूरी हो सकती हैं और यही है "वैदिक त्रैतवाद"। ■

Scanned by CamScanner

हमारे द्वारा प्रकाशित ट्रैक्ट साहित्य की सूची

१.	ब्रह्मकुमारी मतखण्डन	डा० श्रीराम आर्य	६.००
२.	हनुमान जी वन्दर नहीं थे	डा० श्रीराम आर्य	३.००
३.	खुदा और शैतान	डा० श्रीराम आर्य	३.००
४.	कुरान की विचारणीय वातें	डा० श्रीराम आर्य	३.००
५.	यज्ञोपवीत : धार्मिक एवं वैज्ञानिक महत्व	डा० श्रीराम आर्य	२.००
६.	ईसा मसीह मुक्तिदाता नहीं था	डा० श्रीराम आर्य	१.००
७.	मूर्तिपूजा पर ३१ प्रश्न	डा० श्रीराम आर्य	१.००
८.	मृतकश्राद्ध पर २१ प्रश्न	डा० श्रीराम आर्य	१.००
९.	तम्वाकू : (सिग्रेट-वीड़ी) में विष	डा० श्रीराम आर्य	१.००
१०.	ईसा और मरियम	डा० श्रीराम आर्य	१.००
११.	चोटी : धार्मिक और वैज्ञानिक महत्व	डा० श्रीराम आर्य	१.००
१२.	अण्डा और माँस में विष	डा० श्रीराम आर्य	१.००
१३.	संसार के पौराणिक विद्वानों से ३१ प्रश्न	डा० श्रीराम आर्य	२.००
१४.	कुरान में परस्पर विरोधी स्थल	डा० श्रीराम आर्य	१.००
१५.	कुरान खुदाई किताव नहीं	डा० श्रीराम आर्य	१.००
१६.	ईसाई मत का पोल खाता	डा० श्रीराम आर्य	२.००
१७.	अवतारवाद पर २१ प्रश्न	डा० श्रीराम आर्य	१.००
१८.	राधास्वामी पाखण्ड खण्डन	डा० श्रीराम आर्य	६.००

नोट - विशेष जानकारी के लिये प्रकाशन से वृहद् सूची पत्र मंगायें।

"प्रबन्धक"

अमर स्वामी प्रकाशन विभाग - गाजियाबाद।

फोन - (०१२०) ४७०१०६५

Scanned by CamScanner